मधुकलश

बच्चन

सेन्ट्रल बुक डिपो
इलाहाबाद

मधु कलश

सन् १९३५-'३६ में

लिखित

बच्चन की अन्य प्रकाशित रचनाएँ

१—मिलन यामिनी
२—हलाहल
३—बंगाल का काल
४—सतरंगिनी
५—आकुल अंतर
६—एकांत संगीत
७—निशा निमंत्रण
८—मधुबाला
९—मधुशाला
१०—खैयाम की मधुशाला
११—प्रारंभिक रचनाएँ—पहला भाग } कविताएँ
१२—प्रारंभिक रचनाएँ—दूसरा भाग } कविताएँ
१३—प्रारंभिक रचनाएँ—तीसरा भाग—कहानियाँ
१४—बच्चन के साथ क्षण भर

इनके विषय में विशेष जानकारी के लिए प्रकाशक से बच्चन-रचनावली की विवरण पत्रिका मँगाएँ।

मधु कलश

बच्चन

काव्य

सेंट्रल बुक डिपो
इलाहाबाद

प्रकाशक
सेंट्रल बुक डिपो
इलाहाबाद

इस पुस्तक के पहले और दूसरे संस्करण सुषमा निकुंज, प्रयाग से तथा तीसरे और चौथे संस्करण भारती-भंडार, प्रयाग से प्रकाशित हुए थे।

पहला संस्करण—जुलाई, १९३७
दूसरा संस्करण—नवंबर, १९३९
तीसरा संस्करण—फरवरी, १९४३
चौथा संस्करण—मई, १९४४
पाँचवाँ संस्करण—दिसंबर, १९४७

मुद्रक
जे० के० शर्मा
इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस
इलाहाबाद

विज्ञापन

बच्चन के प्रेमियों को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि हमने उनकी समस्त रचनाओं को प्रकाशित करने का भार अपने ऊपर ले लिया है।

हमारा प्रयत्न होगा कि हम उनकी नई-पुरानी सभी पुस्तकों को सुरुचिपूर्ण आकार-प्रकार देकर आपके सामने उपस्थित करें।

'मधु कलश' का पाँचवाँ संस्करण आपके आगे है। हमें आशा है आपको पसंद आएगा। शीघ्र ही उनकी अन्य अप्राप्य रचनाएँ भी नवीन संस्करणों में हम आपके सामने रख सकेंगे, कुछ नवीन रचनाएँ भी।

हम आपके सहयोग के प्रार्थी हैं।

—प्रकाशक

यह

मधु कलश

दिवंगता देवी श्यामा

की

स्मृति में

विशाल विश्व-वृक्ष की डाल में

चिरकाल तक

बँधा रहे

सूची

मधु कलश

मधु कलश

है आज भरा जीवन मुझमें,
है आज भरी मेरी गागर !

(१)

सर में जीवन है, इससे ही
वह लहराता रहता प्रति पल,
सरिता में जीवन, इससे ही
वह गाती जाती है कल-कल,

निर्झर में जीवन, इससे ही
वह झर-झर झरता रहता है,

जीवन ही देता रहता है
नद को द्रुत गति, नद को हलचल,

लहरें उठतीं, लहरें गिरतीं,
लहरें बढ़तीं, लहरें हटतीं,
जीवन से चंचल हैं लहरें,
जीवन से अस्थिर है सागर।

है आज भरा जीवन मुझमें,
है आज भरी मेरी गागर!

(२)

नभ का जीवन प्रति रजनी में
कर उठता है जगमग-जगमग,
जलकर तारक-दल-दीपों में,
सज नीलम का प्रासाद सुभग,

दिन में पट रंग-बिरंगे औ'
सतरंगे बनकर तन ढकता,

प्रातः-सायं कलरव करता
बन चंचल-पर दल के दल खग,

प्रावृट् में विद्युत् में हँसता,
रोता बादल की बूँदों में,
करती है व्यक्त धरा जीवन,
होकर तृणमय, होकर उर्वर।

है आज भरा जीवन मुझमें,
है आज भरी मेरी गागर!

(३)

मारुत का जीवन बहता है
गिरि-कानन पर करता हर-हर,
तरुवर-लतिकाओं का जीवन
कर उठता है मर्मर-मर्मर,

पल्लव का, पर बन अंबर में
उड़ जाने की इच्छा करता,

शाखाओं का, झूमा करता
दाएँ-बाएँ नीचे-ऊपर,

तृण-शिशु, जिनका हो पाया है
अबतक मुखरित कल कंठ नहीं,
दिखला देते अपना जीवन
फड़का अपने अनजान अधर ।

है आज भरा जीवन मुझमें,
है आज भरी मेरी गागर !

(४)

जल में, थल में, नभमंडल में
है जीवन की धारा बहती,
संसृति के कूल-किनारों को
प्रति क्षण सिंचित करती रहती,

इस धारा के तट पर ही है
मेरी यह सुंदर-सी बस्ती--

सुंदर-सी नगरी जिसको है
सब दुनिया मधुशाला कहती;

मैं हूँ इस नगरी की रानी,
इसकी देवी, इसकी प्रतिमा,
इससे मेरा संबंध अटल,
इससे मेरा संबंध अमर।

है आज भरा जीवन मुझमें,
है आज भरी मेरी गागर !

(५)

पल ड्योढ़ी पर, पल आँगन में,
पल छज्जों और झरोखों पर
मैं क्यों न रहूँ जब आने को
मेरे मधु के प्रेमी सुंदर,

जब खोज किसी की हों करते
दृग दूर क्षितिज पर ओर सभी,

किस विधि से मैं गंभीर बनूँ
अपने नयनों को नीचे कर,

मरु की नीरवता का अभिनय
मैं कर ही कैसे सकती हूँ,
जब निष्कारण ही आज रहे
मुसकान-हँसी के निर्झर झर।

है आज भरा जीवन मुझमें,
है आज भरी मेरी गागर !

(६)

मैं स्थिर होकर कैसे बैठूँ,
जब हैं उठते हैं पाँव चपल,
मैं मौन खड़ी किस भाँति रहूँ,
जब हैं बज उठते पग-पायल,

जब मधुघट के आधार बने,
कर क्यों न झुकें, झूमें, घूमें,

किस भाँति रहूँ मैं मुख मूँदे,
जब उड़-उड़ जाता है अंचल;

मैं नाच रही मदिरालय में,
मैं ओर नहीं कुछ कर सकती,
है आज गया कोई मेरे
तन में, प्राणों में यौवन भर।

है आज भरा जीवन मुझमें,
है आज भरी मेरी गागर !

(७)

भावों से ऐसा पूर्ण हृदय
बातें भी मेरी साधारण
उर से उठकर मुख तक आते-
आते बन जाती हैं गायन;

जब लौट प्रतिध्वनि आती है,
अचरज होता है तब मुझको——

हो आज गईं मधु सौरभ से
क्या जड़ दीवारें भी चेतन !

गुंजित करती मदिरालय को,
लाचार यही मैं करने को,
अपने से ही फूटा पड़ता
मुझमें लय-ताल-बँधा मधु स्वर ।

है आज भरा जीवन मुझमें,
है आज भरी मेरी गागर !

(८)

गिरि में न समा उन्माद सका
तब झरनों में बाहर आया,
झरनों की ही थी मादकता
जिसको सर-सरिता ने पाया,

जब सँभल सका उल्लास नहीं
नदियों से, अंबुधि को आईं,

अंबुधि की उमड़ी मस्ती को
नीरद ने भू पर बरसाया;

मलयानिल को निज सौरभ दे
मधुवन कुछ हल्का हो जाता,
मैं कर देती मदिरा वितरित
जाता उर से कुछ भार उतर।

है आज भरा जीवन मुझमें,
है आज भरी मेरी गागर!

(९)

तन की क्षणभंगुर नौका पर
चढ़कर, हे यात्री, तू आया,
तूने नानाविधि नगरों को
होगा जीवन-तट पर पाया,

जड़-शुष्क उन्हें देखा होगा
रक्षित - सीमित प्राचीरों से,

इस नगरी में पाई होगी
अपने उर की स्वप्निल छाया;

है शुष्क सत्य यदि उपयोगी
तो सुखदायक है स्वप्न सक्षम,
सुख भी जीवन का अंश अमर,
मत जग से डर, कुछ देर ठहर ।

है आज भरा जीवन मुझमें,
है आज भरी मेरी गागर !

(१०)

जीवन में दोनों आते हैं
मिट्टी के पल, सोने के क्षण,
जीवन से दोनों जाते हैं
पाने के पल, खोने के क्षण;

हम जिस क्षण में जो करते हैं
हम बाध्य वही हैं करने को,

हँसने के क्षण पाकर हँसते,
रोते हैं पा रोने के क्षण;

विस्मृति की आई है वेला,
कर, पांथ, न इसकी अवहेला,
आ, भूलें हास-रुदन दोनों
मधुमय होकर दो-चार पहर।

है आज भरा जीवन मुझमें,
है आज भरी मेरी गागर !

कवि की वासना

कह रहा जग वासनामय
हो रहा उद्‌गार मेरा !

कवि की वासना

(१)

सृष्टि के प्रारंभ में
मैंने उषा के गाल चूमे,
बाल रवि के भाग्यवाले
दीप्त भाल विशाल चूमे,

प्रथम संध्या के अरुण दृग
चूमकर मैंने सुलाए,

तारिका-कलि से सुसज्जित
नव निशा के बाल चूमे,

वायु के रसमय अधर
पहले सके छू होठ मेरे,
मृत्तिका की पुतलियों से
आज क्या अभिसार मेरा !

कह रहा जग वासनामय
हो रहा उद्गार मेरा !

(२)

विगत-बाल्य वसुंधरा के
उच्च तुंग-उरोज उभरे,
तरु उगे हरिताभ पट धर
काम के ध्वज मत्त फहरे,

चपल उच्छृंखल करों ने
जो किया उत्पात उस दिन,

है हथेली पर लिखा वह,
पढ़ भले ही विश्व हहरे ;

प्यास वारिधि से बुझाकर
भी रहा अतृप्त हूँ मैं,
कामिनी के कुच-कलश से
आज कैसा प्यार मेरा !

कह रहा जग वासनामय
हो रहा उद्गार मेरा !

कवि की वासना

(३)

इंद्रधनु पर शीश धरकर
बादलों की सेज सुख पर
सो चुका हूँ नींद भर मैं
चंचला को बाहु में भर,

दीप रवि - शशि - तारकों ने
बाहरी कुछ केलि देखी,

देख, पर, पाया न कोई
स्वप्न वे सुकुमार सुंदर

जो पलक पर कर निछावर
थी गई मधु यामिनी वह;
यह समाधि बनी हुई है,
यह न शयनागार मेरा !

कह रहा जग वासनामय
हो रहा उद्‍गार मेरा !

(४)

आज मिट्टी से घिरा हूँ
पर उमंगें हैं पुरानी,
सोमरस जो पी चुका है
आज उसके हाथ पानी,

होठ प्यालों पर झुके तो
थे विवश इसके लिए वे,

प्यास का व्रत धार बैठा
आज है मन, किंतु, मानी ;

मैं नहीं हूँ देह-धर्मों से
बँधा, जग, जान ले तू,
तन विकृत हो जाय लेकिन
मन सदा अविकार मेरा !

कह रहा जग वासनामय
हो रहा उद्गार मेरा !

कवि की वासना

(५)

निष्परिश्रम छोड़ जिनको
मोह लेता विश्व भर को,
मानवों को, सुर-असुर को,
वृद्ध ब्रह्मा, विष्णु, हर को,

भंग कर देता तपस्या
सिद्ध, ऋषि, मुनि सत्तमों की,

वे सुमन के बाण मैंने
ही दिए थे पंचशर को;

शक्ति रख कुछ पास अपने
ही दिया यह दान मैंने,
जीत पाएगा इन्हीं से
आज क्या मन मार मेरा !

कह रहा जग वासनामय
हो रहा उद्गार मेरा !

(६)

प्राण प्राणों से सकें मिल
किस तरह, दीवार है तन,
काल है घड़ियाँ न गिनता,
बेड़ियों का शब्द झन-झन,

वेद-लोकाचार प्रहरी
ताकते हर चाल मेरी,

बद्ध इस वातावरण में
क्या करे अभिलाष यौवन !

अल्पतम इच्छा यहाँ
मेरी बनी बंदी पड़ी है,
विश्व क्रीड़ास्थल नहीं रे,
विश्व कारागार मेरा !

कह रहा जग वासनामय
हो रहा उद्‌गार मेरा !

कवि की वासना

(७)

थी तृषा जब शीत जल को
खा लिए अंगार मैंने,
चीथड़ों से उस दिवस था
कर लिया शृंगार मैंने

राजसी पट पहनने की
जब हुई इच्छा प्रबल थी,

चाह - संचय में लुटाया
था भरा भंडार मैंने;

वासना जब तीव्रतम थी
बन गया था संयमी मैं,
है रही मेरी क्षुधा ही
सर्वदा आहार मेरा !

कह रहा जग वासनामय
हो रहा उद्गार मेरा !

(८)

कल छिड़ी, होगी ख़तम कल
प्रेम की मेरी कहानी,
कौन हूँ मैं, जो रहेगी
विश्व मे मेरी निशानी ?

क्या किया मैंने नहीं जो
कर चुका ससार अब तक ?

वृद्ध जग को क्यों अखरती
है क्षणिक मेरी जवानी ?

मैं छिपाना जानता तो
जग मुझे साधू समझता,
शत्रु मेरा बन गया है
छल - रहित व्यवहार मेरा !

कह रहा जग वासनामय
हो रहा उद्‌गार मेरा !

सुषमा

(१)

किसी समय ज्ञानी, कवि, प्रेमी,
तीनों एक ठौर आए,
सुषमा ही से थे सबने
अपने मन-वांच्छित फल पाए।
सुषमा ही उपास्य देवी थीं
तीनों की त्रय कालों में,
पर विचार सुषमा पर सबने
अलग-अलग ही ठहराए !

(२)

'वह सुषमा थी नहीं, न उसने
तुझको अगर प्रकाश दिया।
'वह सुषमा थी नहीं, न उसने
तुझे अगर उन्मत्त किया।'

ज्ञानी औ' कवि की वाणी सुन
प्रेमी आहें भर बोला,

'सुषमा न थी, नहीं यदि उसने
आत्मसात् कर मुझे लिया!'

(३)

एक व्यक्ति साधारण उनकी
बातें सुनने को आया,
मौन हुए जब तीनों तब वह
उच्चस्वर से चिल्लाया,

'मूढ़ो, मैंने अब तक उसको
कभी नहीं सुषमा समझा

जिसके निकट पहुँचते ही
आनंद नहीं मैंने पाया !'

(४)

एक बिंदु पर अब तीनों के
मिल जाने की आशा थी,
क्या अंतिम ही सबसे अच्छी
सुषमा की परिभाषा थी ?

कवि की निराशा

पूछता जग, है निराशा से
भरा क्यों गान मेरा ?

कवि की निराशा

(१)

मुसकरा कठिनाइयों—
आपत्तियों को दूर टाला,
धैर्य धरकर संकटों में
ख़ूब अपने को सँभाला,

किंतु जब पर्वत पड़ा आ
शीश पर मैं सह न पाया,

जब उठा हो भार जीवन
तब लगाया होठ प्याला;

व्यर्थ कर दिन-रात निंदा
विश्व ने जिह्वा थकाई,
था बहाना एक मन-
बहलाव का मधुपान मेरा।

"पूछता जग, है निराशा से
भरा क्यों गान मेरा?

(२)

है चमकता जो सितारा
वह प्रभा से हीन होगा,
बढ़ रहा जो चाँद नभ में
एक दिन फिर क्षीण होगा,

क्षीण होगा पूर्ण फिर से,
म्लान फिर द्युतिमान होगा,

भ्रांत इस आवर्त में ही
विश्व-जीवन लीन होगा;

किस विजय पर ढोल पीटूँ,
किस पराजय पर धुनूँ सिर ?
रात-दिन-सा जड़ नियम से
बद्ध पतनोत्थान मेरा।

पूछता जग, है निराशा से
भरा क्यों गान मेरा ?

कवि की निराशा

(३)

खिल मृदुल-सुकुमार कलिका-
पुष्प मुरझाने न पाए,
लहलहाते उपवनों में
वायु पतझड़ की न आए,

कोकिला सकरुण स्वरों में
मत बिदा माँगे द्रुमों से,

हों न झूठे स्वप्न कवि के
जो गए युग-युग सजाए—

यह न हो तो किन सुखों का
गीत मुखरित कंठ से हो,
विश्व पूरा कर सका है
कौन-सा अरमान मेरा ?

पूछता जग, है निराशा से
भरा क्यों गान मेरा ?

(४)

बद्ध विश्व अपूर्ण में मैं,
पुण्य मुझमें, पाप मुझमें,
हर बुराई, हर भलाई की
मिलेगी छाप मुझमें,

पात्र अपयश का अकेला
यदि, प्रकट अन्याय जग का,

साथ दोषों के गुणों की
भी बनी है माप मुझमें;

मैं जगत के वास्ते
अभिशाप हूँ, वरदान भी हूँ;
छा गया अभिशाप लेकिन
छिप गया वरदान मेरा।

पूछता जग, है निराशा से
भरा क्यों गान मेरा ?

कवि की निराशा

(५)

देख अलका पाद-लुंठित
गर्व के कारण न फूला,
कर सका उपहास लय का
किंतु अपने को न भूला,

स्वर्ग को आशीष देकर
भूमि को मैं सिर झुकाऊँ !

जब उमड़ता सिंधु उर में
क्या ख़ुशी पाकर बबूला;

एक मेरे लघु चरण से
नप गया वैभव धरा का !
कर सकेगी दीन जगती
किस तरह सम्मान मेरा ?

पूछता जग, है निराशा से
भरा क्यों गान मेरा ?

(६)

तेज था विश्वास का उर में
कभी, अब तो अँधेरा,
आज तो संदेह - शंका ने
लिया है डाल डेरा,

पथ बताए कौन, सब तो
हैं भटकते - भूलते - से,

मच रहा है शोर, 'मत है
ठीक मेरा, ठीक मेरा !'

हर दिशा की ओर बढ़ता,
लौटता, फिर दौड़ता है;
है किधर मंज़िल न पाया
जान जीवन - यान मेरा।

पूछता जग, है निराशा से
भरा क्यों गान मेरा ?

कवि की निराशा

(७)

एक मधुवन बीच विचरित
दूसरा पग स्थित मरुस्थल,
एक में जीवन - सुधा - रस
दूसरे कर में हलाहल।

सुन रहा नंदन - परी का
गान, क्रंदन भिक्षुणी का,

देखता हूँ तम सघन की
गोद में मैं ज्योति निर्मल;

आज आशा, कल निराशा,
फिर हृदय में शून्य - सा कुछ,
कुछ विरोधी कण - समूहों से
हुआ निर्माण मेरा।

पूछता जग, है निराशा से
भरा क्यों गान मेरा ?

(८)

कल्पना-पथ अनुसरण कर
मैं नियति के गृह पधारा,
आँख मूँदे लिख रही थी
एक पुस्तक वह उदारा,

'यह कथा तेरी', कहा उसने
तथा वह पुस्तिका दी,

खोलते ही पृष्ठ पहला
कँप उठा तन-प्राण सारा,

'भूमिका' पढ़कर पड़ा रो
यह गगन स्वप्नाभिलाषी,
'आज-कल' अध्याय दो में
पूर्ण लघु आख्यान मेरा !

पूछता जग, है निराशा से
भरा क्यों गान मेरा ?

कवि की निराशा

(९)

एक दिन मैंने लिया था
काल से कुछ श्वास का ऋण,
आज भी उसको चुकाता,
ले रहा वह क्रूर गिन - गिन,

ब्याज में मुझसे उगाहा
है हृदय का गान उसने,

किंतु होने में उऋण अब
शेष केवल और दो दिन,

फिर पड़ूँगा तान चादर
सर्वथा निश्चिंत होकर,
भूलकर जग ने किया किस-
किस तरह अपमान मेरा।

पूछता जग, है निराशा से
भरा क्यों गान मेरा ?

(१०)

क्यों लगा रजकण सँजोने
त्याग कुंदन का डला मैं ?
क्यों फिरा कंटक वनों में
छोड़ पथ फूला-फला मैं ?

हास विद्युत् का हटा क्यों
अश्रु-धारा में बरसता ?

था सुधा में जब निमज्जित
क्यों गरल पीने चला मैं ?——

बूझ दुनिया यह पहेली
जान कुछ मुझको सकेगी,
हो चुकेगा किंतु इसके
पूर्व ही अवसान मेरा !

पूछता जग, है निराशा से
भरा क्यों गान मेरा ?

री हरियाली !

छा रही कण-कण अवनि का,
छा, सजनि, मेरा हृदय भी !

(१)

गुंबदों, छत - छप्परों पर,
मार्ग में, मैदान में तू,
सिक्त सरिता के तटों पर,
खेत में, खलिहान में तू,

फूस मिट्टी से बनाए
खेतिहरों के झोपड़ों पर,

ढाल, ढूह, पहाड़ियों पर,
निम्न - उच्चस्थान में तू;

डालता सब पर सदा कवि
निज हृदय की स्नेह छाया,
किंतु लज्जित आज तुझको
देख उसका उर सदय भी।

छा रही कण-कण अवनि का,
छा, सजनि, मेरा हृदय भी!

री हरियाली !

(२)

जड़ जगत के साथ चेतन
का रही रख ध्यान तू है,
दे रही कृश पशु दलों को
आज तृण का दान तू है,

नारियों के पट, पुरुष की
पाग अपने रंग रँगती,

भर रही नव युवतियों के
कंठ में कल गान तू है,

रँग हथेली लाल उनकी
झूलनों में है झुलाती,
विश्व - सुख में भूलता कवि
आज निज दुख का समय भी।

छा रही कण - कण अवनि का,
छा, सजनि, मेरा हृदय भी !

(३)

आज हर्षित नभ धरणि पर
देख अपनी श्याम छाया,
बादलों ने आज अपने
आँसुओं का मोल पाया,

भूलकर मारुत मलय गिरि
लोटता तृण - सेज पर है,

कौन कहता घास हिलती,
आज भूतल मुसकराया ।

कौन ख़ुश होता नहीं यह
देख मरकत - राशि बिखरी,
हो सभी के हेतु सुखकर,
हो अगर मेरा उदय भी ।

छा रही कण - कण अवनि का,
छा, सजनि, मेरा हृदय भी !

री हरियाली !

(४)

मानता, कुछ मास रवि ने
था धरातल को तपाया,
सोख रस रज के कणों का
अग्नि कण-सा था बनाया,

दिन फिरे फिर, घन घिरे फिर,
सरसता हर ओर फैली,

और प्रति कण को मिली फिर
स्निग्ध तेरी छत्र-छाया;

मैं हृदय में अग्नि लेकर
एक युग से जल रहा हूँ,
शेष उर में कुछ दया तो
आज सुन मेरी विनय भी।

छा रही कण-कण अवनि का,
छा, सजनि, मेरा हृदय भी !

(५)

स्वर्ग - शोभन कल्पतरु औ'
देव - प्रिय मंदार सुंदर
कर रहे निर्विघ्न शासन
आदि युग से कवि - हृदय पर,

नव रसाल, कदंब ने मन
पर किया अधिकार कब से,

चित्त वश में कर चुके हैं
कंज, कुंद, शिरीष, केसर;

निम्नतम तू, किंतु मैं तो
नम्रतम बनने चला हूँ,
आँक मेरे उर - पटल पर
आज तू अपनी विजय भी।

छा रही कण - कण अवनि का,
छा, सजनि, मेरा हृदय भी !

कवि का गीत

गीत कह इसको न दुनिया,
यह दुखों की माप मेरे !

(१)

काम क्या समझूँ न हो यदि
गाँठ उर की खोलने को ?
संग क्या समझूँ किसी का
हो न मन यदि बोलने को ?

जानता क्या क्षीण जीवन ने
उठाया भार कितना,

बाट में रखता न यदि
उच्छ्वास अपने तोलने को ?

हैं वही उच्छ्वास कल के
आज सुखमय राग जग में,
आज मधुमय गान, कल के
दग्ध-कंठ प्रलाप मेरे।

गीत कह इसको न दुनिया,
यह दुखों की माप मेरे !

कवि का गीत

(२)

उच्चतम गिरि के शिखर को
लक्ष्य जब मैंने बनाया,
गर्व से उन्मत्त होकर
शीश मानव ने उठाया,

ध्येय पर पहुँचा, विजय के
नाद से संसार गूँजा,

ख़ूब गूँजा किंतु कोई
गीत गा सुन स्वर न पाया;

आज कण-कण से ध्वनित
झंकार होगी नूपुरों की,
खड्ग-जीवन-धार पर अब
हैं उठे पद काँप मेरे।

गीत कह इसको न दुनिया,
यह दुखों की माप मेरे!

(३)

गान हो जब गूँजने को
विश्व में, क्रंदन करूँ मैं,
हो गमकने को सुरभि जब
विश्व में, आहें भरूँ मैं,

विश्व बनने को सरस हो
जब, गिराऊँ अश्रु मैं तब,

विश्व - जीवन - ज्योति जागे,
इसलिए जलकर मरूँ मैं !

बोल किस आवेश में तू
स्वर्ग से यह माँग बैठा ?—
पुण्य जब जग के उदय हों
तब उदय हों पाप मेरे !

गीत कह इसको न दुनिया,
यह दुखों की माप मेरे !

(४)

चुभ रहा था जो हृदय में
एक तीखा शूल बनकर,
विश्व के कर में पड़ा वह
कल्पतरु का फूल बनकर,

सीखता संसार अब है
ज्ञान का प्रिय पाठ जिससे,

प्राप्त वह मुझको हुई थी
एक भीषण भूल बनकर;

था जगत का और मेरा
यदि कभी संबंध तो यह—
विश्व को वरदान थे जो
थे वही अभिशाप मेरे !

गीत कह इसको न दुनिया,
यह दुखों की माप मेरे !

(५)

भावना के पुष्प अपनी
सूत्र - वाणी में पिरोकर
धर दिए मैंने ख़ुशी से
विश्व के विस्तीर्ण पथ पर,

कौन है सिर पर चढ़ाता,
कौन ठुकराता पगों से,

कौन है करता उपेक्षा,
मुड़ कभी देखा न पल भर ;

थी बड़ी नाज़ुक धरोहर,
था बड़ा दायित्व मुझपर,
अब नहीं चिंता इन्हें
झुलसा न दें संताप मेरे।

गीत कह इसको न दुनिया,
यह दुखों की माप मेरे !

पथभ्रष्ट

हैं कुपथ पर पाँव मेरे
आज दुनिया की नज़र में !

मधु कलश

(१)

पार तम के दीख पड़ता
एक दीपक झिलमिलाता,
जा रहा उस ओर हूँ मैं
मत्त - मधुमय गीत गाता,

इस कुपथ पर या सुपथ पर
मैं अकेला ही नहीं हूँ,

जानता हूँ, क्यों जगत फिर
उँगलियाँ मुझपर उठाता—

मौन रहकर इस लहर के
साथ संगी बह रहे हैं,
एक मेरी ही उमंगें
हो उठी हैं व्यक्त स्वर में।

हैं कुपथ पर पाँव मेरे
आज दुनिया की नज़र में।

पथभ्रष्ट

(२)

क्यों बताऊँ पोत कितने
पार हैं इसने लगाए ?
क्यों बताऊँ वृक्ष कितने
तीर के इसने गिराए ?

उर्वरा कितनी धरा को
कर चुकी यह क्यों बताऊँ ?

क्यों बताऊँ गीत कितने
इस लहर ने हैं लिखाए

कूल पर बैठे हुए कवि से
किसी दुख की घड़ी में ?
क्या नहीं पर्याप्त इतना
जानना, गति है लहर में ?

हैं कुपथ पर पाँव मेरे
आज दुनिया की नज़र में !

(३)

फल-भरे तरु तोड़ डाले
शांत मत लेकिन पवन हो,
वज्र घन चाहे गिराए
किंतु मत सूना गगन हो,

बाढ़ बहा दे बस्तियों को
पर न हो जलहीन सरिता,

हो न ऊसर देश चाहे
कंटकों का एक वन हो;

पाप की ही गैल पर
चलते हुए ये पाँव मेरे
हँस रहे हैं उन पगों पर
जो बँधे हैं आज घर में।

हैं कुपथ पर पाँव मेरे
आज दुनिया की नज़र में !

(४)

यह नहीं, सुनता नहीं, जो
शंख की ध्वनि आ रही है,
देव - मंदिर में जनों को
साधिकार बुला रही है,

कान में आतीं अज़ानें,
मस्जिदों का यह निमंत्रण,

और ही संदेश देती
किंतु बुलबुल गा रही है;

रक्त से सींची गई है
राह मंदिर - मस्जिदों की,
किंतु रखना चाहता मैं
पाँव मधु - सिंचित डगर में।

हैं कुपथ पर पाँव मेरे
आज दुनिया की नज़र में!

(५)

है न वह व्यक्तित्व मेरा
जिस तरफ़ मेरा क़दम हो,
उस तरफ़ जाना जगत के
वास्ते कल से नियम हो,

औलिया - आचार्य बनने की
नहीं अभिलाष मेरी,

किसलिए संसार तुझको
देख मेरी चाल ग़म हो ?

जो चले युग - युग चरण ध्रुव
धर मिटे पद - चिह्न उनके,
पद प्रकंपित, हाय, अंकित
क्या करेंगे दो प्रहर में !

हैं कुपथ पर पाँव मेरे
आज दुनिया की नज़र में !

(६)

मैं कहाँ हूँ और वह
आदर्श मधुशाला कहाँ है !
विस्मरण दे जागरण के
साथ, मधुबाला कहाँ है !

है कहाँ प्याला कि जो दे
चिर तृषा चिर तृप्ति में भी !

जो डुबा तो ले मगर दे
पार कर, हाला कहाँ है !

देख भीगे होठ मेरे
और कुछ संदेह मत कर,
रक्त मेरे ही हृदय का
है लगा मेरे अधर में !

हैं कुपथ पर पाँव मेरे
आज दुनिया की नज़र में !

(७)

सोचता है विश्व, कवि ने
कक्ष में बहु विधि सजाए,
मदिर-नयना यौवना को
गोद में अपनी बिठाए,

होठ से उसके विचुंबित
प्यालियों को रिक्त करते,

झूमते उन्मत्तता से
ये सुरा के गान गाए !

राग के पीछे छिपा
चीत्कार कह देगा किसी दिन,
हैं लिखे मधुगीत मैंने
हो खड़े जीवन समर में !

हैं कुपथ पर पाँव मेरे
आज दुनिया की नज़र में !

(८)

पाँव चलने को विवश थे
जब विवेक - विहीन था मन,
आज तो मस्तिष्क दूषित
कर चुके पथ के मलिन कण,

मैं इसीसे क्या करूँ
अच्छे - बुरे का भेद, भाई,

लौटना भी तो कठिन है
चल चुका युग एक जीवन;

हो नियति इच्छा तुम्हारी
पूर्ण, मैं चलता चलूँगा,
पथ सभी मिल एक होंगे
तम - घिरे यम के नगर में।

हैं कुपथ पर पाँव मेरे
आज दुनिया की नज़र में !

कवि का उपहास

विश्व में उपहास जिसका
वह कभी थी आह मेरी।

कवि का उपहास

(१)

तप रहा दिन - दिन दिवाकर,
ज्योति जीवन ले रहा है,
रो रहा सागर अहर्निश,
विश्व नौका खे रहा है,

जल रहा नभ का हृदय, निज
पथ - दिशा यात्री समझता,

क्यों न इनकी वेदना पर
ध्यान कोई दे रहा है ?

इन महान विभूतियों के
सामने मैं तुच्छ मानव,
क्यों लगी होने किसी को
फिर भला परवाह मेरी ?

विश्व में उपहास जिसका
वह कभी थी आह मेरी।

(२)

जब कि मेरे साथ रोया
खोलकर जी घन सघन था,
अश्रु - मुक्ता देख बलि-बलि
जब हुआ उडुमय गगन था,

जब कि अंबुधि हो उठा
विक्षुब्ध था मेरी व्यथा से,

कर चुका निःश्वास मेरा
विश्वव्यापी जब पवन था,

जब कि मेरे गान - रोदन
में प्रकृति थी साथ मेरे,
मानवी संवेदना की
तब हुई क्यों चाह मेरी ?

विश्व में उपहास जिसका
वह कभी थी आह मेरी।

कवि का उपहास

(३)

उस जगह जल-धार बहती
जिस जगह पर है तृषाकुल,
फूल हैं उस ठौर फूले
बोलती जिस ठौर बुलबुल,

कूकता पिक है जहाँपर
हैं वहाँ अमराइयाँ भी,

भेद मेरे लोक-गायन
का गया इस रीति से खुल,

बढ़ चले जब पाँव मेरे
भावना के पंथ पर यों,
सिद्ध है कोई प्रतीक्षा
कर रहा सोत्साह मेरी।

विश्व में उपहास जिसका
वह कभी थी आह मेरी।

(४)

वृष्टि का होना सफल, यदि
एक भी तृण हो धरणि पर,
एक भी तरु मंजरित यदि,
व्यर्थ कोयल का नहीं स्वर,

वायु का बहना निरंतर
मैं नहीं कहता निरर्थक,

एक सर लहरा उठे यदि,
कर उठे द्रुम एक मर्मर;

है नहीं निष्फल कभी यह
गीतमय अस्तित्व मेरा,
प्रतिध्वनित यदि एक उर में
एक क्षीण कराह मेरी !

विश्व में उपहास जिसका
वह कभी थी आह मेरी।

(५)

चाँद था सुंदर नहीं जब-
तक न था मैंने निहारा,
आँख की मेरी चमक ले
चमचमाया था सितारा,

प्रात को मेरे मुकुर-उर
में मिली बिंबित विभा निज,

विश्व ने सौंदर्य देखा
नित्य मेरे नेत्र द्वारा,

देख अपना रूप जग जब
गर्व करता, मैं समझता,
वह रहा इस भाँति सत्ता
भूरि-भूरि सराह मेरी।

विश्व में उपहास जिसका
वह कभी थी आह मेरी।

(६)

शंख की ध्वनि यदि ज़रूरी
झाँझ की झनकार भी है,
काठ की माला ज़रूरी
यदि, कुसुम का हार भी है,

शुष्क ज्ञानी चाहिए तो
चाहिए रससिद्ध कवि भी,

सत्य आवश्यक अगर है,
स्वप्न की दरकार भी है,

स्वप्न—जिनको व्योम से मैं
बीच मन के खींच लाता,
है गड़ी यद्यपि धरा की
ओर आज निगाह मेरी।

विश्व में उपहास जिसका
वह कभी थी आह मेरी।

(७)

अग्रसर होता अधर में
कल्पना-खग पर सँवर जब,
अश्व द्वादश अंशुमाली
के न पा सकते मुझे तब,

पल चढ़ा आकाश में हूँ,
पल पड़ा पाताल में हूँ,

चंचला को भी चपलता
मिल सकी मुझ-सी भला कब ?

आज मिट्टी के खिलौने
हाथ हैं मुझतक बढ़ाते,
छू नहीं सकते कभी वे
स्वप्न में भी छाँह मेरी।

विश्व में उपहास जिसका
वह कभी थी आह मेरी।

(८)

बाहु-बल से ही तरंगों
की अनी से होड़ लेता,
कूलहीन समुद्र में
निःशंक नौका छोड़ देता,

बाँधता पल में हृदय का
सेतु अंबर से अवनि तक,

धार को भी अति प्रबल
विपरीत उसके मोड़ देता;

नद न भरना, सर न सरिता,
कूप-वापी में न गिनती,
बूँद स्याही की भला क्या
रोक लेगी राह मेरी !

विश्व में उपहास जिसका
वह कभी थी आह मेरी।

कवि का उपहास

(९)

बंद था, बाहर हुआ दृढ़
वक्ष गिरि का चीरकर मैं,
रुद्ध था, द्रुतगति हुआ
अज्ञात पथ पर पाँव धर मैं,

मौन था, मुखरित हुआ
स्वच्छंदता के गीत गाता,

विश्व के कारागृहों की
भित्तियों से हो निडर मैं;

खोजता मेरा अजस्त्र प्रवाह
उर कोई उदधि - सा,
लेखनी से ले नहीं सकता
कभी जग थाह मेरी।

विश्व में उपहास जिसका
वह कभी थी आह मेरी।

(१०)

मैं हँसा जितना कि ख़ुद पर,
कौन हँस मुझपर सकेगा ?
और जितना रो चुका हूँ,
रो नहीं निर्झर सकेगा।

मैं स्वयं करता रहा हूँ
जिस तरह प्रतिरोध अपना

मानवों में कौन मेरा
उस तरह से कर सकेगा ?

हाथ ले बुझती मशालें
जग चला मुझको जलाने,
जल उठीं छूकर मुझे वे
धन्य अंतर्दाह मेरी !

विश्व में उपहास जिसका
वह कभी थी आह मेरी।

माँझी

धूलिमय नभ, क्या इसी से
बाँध दूँ मैं नाव तट पर ?

(१)

देखते ही देखते अति
वेग से कर शब्द सन-सन
टूट पृथ्वी पर पड़ेगा
पश्चिमी नभ से प्रभंजन,

भीत हो सारी दिशाएँ
घन तिमिर में जा छिपेंगी,

जायगा भर घोर हाहा-
कार से वन और उपवन,

हो विकल-विह्वल तरंगें
उठ गिरेंगी, गिर उठेंगी,
जल थपेड़े खा उठेगी
काँप मेरी नाव थर-थर।

धूलिमय नभ, क्या इसीसे
बाँध दूँ मैं नाव तट पर?

(२)

प्रात की स्वर्णिम विभा में
और दिन की रोशनी में,
सांध्य नभ की लालिमा में,
श्वेत - शीतल चाँदनी में

वायु के अनुकूल अपना
पाल फैलाता, गिराता

मैं चुका हूँ घूम गाता
स्वच्छ - जल कल्लोलिनी में;

आज मैं तम तोम आता
देखकर पीछे हटूँ यदि,
काम किस दिन आ सकेगी
जो रही जग ज्वाल अंदर ?

धूलिमय नभ, क्या इसीसे
बाँध दूँ मैं नाव तट पर ?

(३)

ठीक, लहरों से प्रताड़ित
हो करेगी नाव मरमर,
फेन फैलाता तटों पर
कर उठेगा नीर छरछर,

व्योम के सुनसान घर में
शब्द सनसन भर उठेगा,

कर चलेगी तीर पर
फैली हुई वन-राजि हरहर;

किंतु इतने से भला वह
किस तरह हो मौन बैठे,
विश्व का चीत्कार गाने
जो चला है राग में भर !

धूलिमय नभ, क्या इसीसे
बाँध दूँ मैं नाव तट पर ?

(४)

जायगा उड़ पाल होकर
तार - तार विशद गगन में,
टूटकर मस्तूल सिर पर
आ गिरेगा एक क्षण में,

नाव से होकर अलग
पतवार धारा में बहेगी,

डाँड छूटेगा करों से,
पर बचा यदि प्राण तन में

तैर कर ही क्या न अपने
ध्येय को मैं जा सकूँगा;
मथ चुके हैं कर न जाने
बार कितनी विश्व - सागर !

धूलिमय नभ, क्या इसीसे
बाँध दूँ मैं नाव तट पर ?

(५)

आज है अस्थिर गगन,
अस्थिर सलिल-तल हो रहा है,
किंतु अस्थिर हो न माँझी
धैर्य अपना खो रहा है,

झेलने को इस बड़े
तूफ़ान के झोंके - झकोरे

मानवी संपूर्ण साहस
वक्ष बीच सँजो रहा है;

अवनि - अंबर की तराज़ू
सामने रख दी गई है,
क्यों न तोलूँ आज अपनी
शक्ति इसपर गर्व से धर ?

धूलिमय नभ, क्या इसीसे
बाँध दूँ मैं नाव तट पर ?

लहरों का निमंत्रण

तीर पर कैसे रुकूँ मैं,
आज लहरों में. निमंत्रण !

(१)

रात का अंतिम प्रहर है,
झिलमिलाते हैं सितारे,
वक्ष पर युग बाहु बाँधे
मैं खड़ा सागर किनारे,

वेग से बहता प्रभंजन
केश-पट मेरे उड़ाता,

शून्य में भरता उदधि-
उर की रहस्यमयी पुकारें;

इन पुकारों की प्रतिध्वनि
हो रही मेरे हृदय में,
है प्रतिच्छायित जहाँपर
सिंधु का हिल्लोल-कंपन।

तीर पर कैसे रुकूँ मैं,
आज लहरों में निमंत्रण!

लहरों का निमंत्रण

(२)

विश्व की संपूर्ण पीड़ा
सम्मिलित हो रो रही है,
शुष्क पृथ्वी आँसुओं से
पाँव अपने धो रही है,

इस धरा पर जो बसी दुनिया
यही अनुरूप उसके—

इस व्यथा से हो न विचलित
नींद सुख की सो रही है;

क्यों धरणि अब तक न गलकर
लीन जलनिधि में गई हो ?
देखते क्यों नेत्र कवि के
भूमि पर जड़-तुल्य जीवन ?

तीर पर कैसे रुकूँ मैं,
आज लहरों में निमंत्रण !

(३)

जड़ जगत में वास कर भी
जड़ नहीं व्यवहार कवि का,
भावनाओं से विनिर्मित
और ही संसार कवि का,

बूँद के उच्छ्वास को भी
अनसुनी करता नहीं वह,

किस तरह होता उपेक्षा-
पात्र पारावार कवि का;

विश्व - पीड़ा से सुपरिचित
हो तरल बनने, पिघलने,
त्यागकर आया यहाँ कवि
स्वप्न - लोकों के प्रलोभन ।

तीर पर कैसे रुकूँ मैं,
आज लहरों में निमंत्रण !

(४)

जिस तरह मरु के हृदय में
है कहीं लहरा रहा सर,
जिस तरह पावस-पवन में
है पपीहे का छिपा स्वर,

जिस तरह से अश्रु-आहों से
भरी कवि की निशा में

नींद की परियाँ बनातीं
कल्पना का लोक सुखकर,

सिंधु के इस तीव्र हाहा-
कार ने, विश्वास मेरा,
है छिपा रक्खा कहींपर
एक रस-परिपूर्ण गायन।

तीर पर कैसे रुकूँ मैं,
आज लहरों में निमंत्रण!

(५)

नेत्र सहसा आज मेरे
तम-पटल के पार जाकर
देखते हैं रत्न-सीपी से
बना प्रासाद सुंदर,

है खड़ी जिसमें उषा ले
दीप कुंचित रश्मियों का,

ज्योति में जिसकी सुनहली
सिंधु कन्याएँ मनोहर

गूढ़ अर्थों से भरी मुद्रा
बनाकर गान करतीं
और करतीं अति अलौकिक
ताल पर उन्मत्त नर्तन।

तीर पर कैसे रुकूँ मैं,
आज लहरों में निमंत्रण !

(६)

मौन हो गंधर्व बैठे
कर श्रवण इस गान का स्वर,
वाद्य - यंत्रों पर चलाते
हैं नहीं अब हाथ किन्नर,

अप्सराओं के उठे जो
पग उठे ही रह गए हैं,

कर्ण उत्सुक, नेत्र अपलक
साथ देवों के पुरंदर

एक अद्भुत और अविचल
चित्र - सा है जान पड़ता,
देव - बालाएँ विमानों से
रहीं कर पुष्प - वर्षण ।

तीर पर कैसे रुकूँ मैं,
आज लहरों में निमंत्रण !

(७)

दीर्घ उर में भी जलधि के
हैं नहीं ख़ुशियाँ समातीं,
बोल सकता कुछ न उठती
फूल बारंबार छाती;

हर्ष रत्नागार अपना
कुछ दिखा सकता जगत को,

भावनाओं से भरी यदि
यह फफककर फूट जाती;

सिंधु जिसपर गर्व करता
और जिसकी अर्चना को
स्वर्ग झुकता, क्यों न उसके
प्रति करे कवि अर्घ्य अर्पण।

तीर पर कैसे रुकूँ मैं,
आज लहरों में निमंत्रण !

लहरों का निमंत्रण

(८)

आज अपने स्वप्न को मैं
सच बनाना चाहता हूँ,
दूर की इस कल्पना के
पास जाना चाहता हूँ,

चाहता हूँ तैर जाना
सामने अंबुधि पड़ा जो,

कुछ विभा उस पार की
इस पार लाना चाहता हूँ;

स्वर्ग के भी स्वप्न भू पर
देख उनसे दूर ही था,
किंतु पाऊँगा नहीं कर
आज अपने पर नियंत्रण।

तीर पर कैसे रुकूँ मैं,
आज लहरों में निमंत्रण!

(९)

लौट आया यदि वहाँ से
तो यहाँ नव युग लगेगा,
नव प्रभाती गान सुनकर
भाग्य जगती का जगेगा,

शुष्क जड़ता शीघ्र बदलेगी
सरस चैतन्यता में,

यदि न पाया लौट, मुझको
लाभ जीवन का मिलेगा;

पर पहुँच ही यदि न पाया
व्यर्थ क्या प्रस्थान होगा?
कर सकूँगा विश्व में फिर-
भी नए पथ का प्रदर्शन।

तीर पर कैसे रुकूँ मैं,
आज लहरों में निमंत्रण!

लहरों का निमंत्रण

(१०)

स्थल गया है भर पथों से
नाम कितनों के गिनाऊँ,
स्थान बाक़ी है कहाँ, पथ
एक अपना भी बनाऊँ ?

विश्व तो चलता रहा है
थाम राह बनी - बनाई,

किंतु इनपर किस तरह मैं
कवि - चरण अपने बढ़ाऊँ ?

राह जल पर भी बनी है,
रूढ़ि, पर, न हुई कभी वह,
एक तिनका भी बना सकता
यहाँ पर मार्ग नूतन !

तीर पर कैसे रुकूँ मैं,
आज लहरों में निमंत्रण !

(११)

देखता हूँ आँख के आगे
नया यह क्या तमाशा—
कर निकलकर दीर्घ जल से
हिल रहा करता मना - सा,

है हथेली - मध्य चित्रित
नीर मग्नप्राय बेड़ा !

मैं इसे पहचानता हूँ,
है नहीं क्या यह निराशा ?

हो पड़ीं उद्दाम इतनी
उर - उमंगें, अब न उनको
रोक सकता भय निराशा का,
न आशा का प्रवंचन ।

तीर पर कैसे रुकूँ मैं,
आज लहरों में निमंत्रण !

(१२)

पोत अगणित इन तरंगों ने
डुबाए मानता मैं,
पार भी पहुँचे बहुत से—
बात यह भी जानता मैं,

किंतु होता सत्य यदि यह
भी, सभी जलयान डूबे,

पार जाने की प्रतिज्ञा
आज बरबस ठानता मैं;

डूबता मैं, किंतु उतराता
सदा व्यक्तित्व मेरा,
हों युवक डूबे भले ही
है कभी डूबा न यौवन !

तीर पर कैसे रुकूँ मैं,
आज लहरों में निमंत्रण !

(१३)

आ रहीं प्राची क्षितिज से
खींच ने वाली सदाएँ,
मानवों के भाग्य - निर्णायक
सितारो ! दो दुआएँ,

नाव, नाविक, फेर ले जा,
है नहीं कुछ काम इसका,

आज लहरों से उलझने को
फड़कती हैं भुजाएँ;

प्राप्त हो उस पार भी इस
पार - सा चाहे अँधेरा,
प्राप्त हो युग की उषा
चाहे लुटाती नव किरण-धन ।

तीर पर कैसे रुकूँ मैं,
आज लहरों में निमंत्रण !

'मेघदूत' के प्रति

'मेघ' जिस-जिस काल पढ़ता
मैं स्वयं बन मेघ जाता !

मधु कलश

(१)

हो धरणि चाहे शरद की
चाँदनी में स्नान करती,
वायु ऋतु हेमंत की चाहे
गगन में हो विचरती,

हो शिशिर चाहे गिराता
पीत-जर्जर पत्र तरु के,

कोकिला चाहे वनों में
हो वसंती राग भरती,

ग्रीष्म का मार्तंड चाहे
हो तपाता भूमि-तल को,
दिन प्रथम आषाढ़ का मैं
'मेघ-चर' द्वारा बुलाता।

'मेघ' जिस-जिस काल पढ़ता
मैं स्वयं बन मेघ जाता!

'मेघदूत' के प्रति

(२)

भूल जाता अस्थि-मज्जा-
मांसयुक्त शरीर हूँ मैं,
भासता बस—धूम्र संयुत
ज्योति-सलिल-समीर हूँ मैं,

उठ रहा हूँ उच्च भवनों के
शिखर से और ऊपर,

देखता संसार नीचे
इंद्र का वर वीर हूँ मैं,

मंद गति से जा रहा हूँ
पा पवन अनुकूल अपने,
संग है वक-पंक्ति, चातक-
दल मधुर स्वर गीत गाता।

'मेघ' जिस-जिस काल पढ़ता
मैं स्वयं बन मेघ जाता!

(३)

झोपड़ी, गृह, भवन भारी,
महल औ' प्रासाद सुंदर,
कलश, गुंबद, स्तंभ, उन्नत
धरहरे, मीनार दृढ़तर,

दुर्ग, देवल, पथ सुविस्तृत
और क्रीड़ोद्यान—सारे

मंत्रिता कवि-लेखनी के
स्पर्श से होते अगोचर

और सहसा रामगिरि पर्वत
उठाता शीश अपना,
गोद जिसकी स्निग्ध छाया-
वान कानन लहलहाता !

'मेघ' जिस-जिस काल पढ़ता
मैं स्वयं बन मेघ जाता !

'मेघदूत' के प्रति

(४)

देखता इस शैल के ही
अंक में बहु पूज्य पुष्कर,
पुण्य-जल जिनको किया था
जनक-तनया ने नहाकर

संग जब श्री राम के वे
थीं यहाँ पर वास करती,

देखता अंकित चरण उनके
अनेक अचल-शिला पर,

जान ये पद-चिह्न वंदित
विश्व से होते रहे हैं,
देख इनको शीश मैं भी
भक्ति-श्रद्धा से नवाता।

'मेघ' जिस-जिस काल पढ़ता
मैं स्वयं बन मेघ जाता!

मधु कलश

(५)

देखता गिरि की शरण में
एक सर के रम्य तट पर
एक लघु आश्रम घिरा बन
तरु-लताओं से सघनतर,

इस जगह कर्तव्य से च्युत
यक्ष को पाता अकेला,

निज प्रिया के ध्यान में जो
अश्रुमय उच्छ्वास भर-भर,

क्षीणतन हो, दीनमन हो
और महिमाहीन होकर
वर्ष भर कांता-विरह के
शाप के दुर्दिन बिताता।

'मेघ' जिस-जिस काल पढ़ता
मैं स्वयं बन मेघ जाता!

'मेघदूत' के प्रति

(६)

था दिया अभिशाप अलका-
ध्यक्ष ने जिस यक्षवर को,
वर्ष भर का दंड सहकर
वह गया कबका स्वघर को,

प्रेयसी को एक क्षण उर से
लगा सब कष्ट भूला,

किंतु शापित यक्ष तेरा
रे महाकवि, जन्म - भर को !

रामगिरि पर चिर विधुर हो
युग - युगांतर से पड़ा है,
मिल न पाएगा प्रलय तक
हाय, उसका शाप - त्राता !

'मेघ' जिस-जिस काल पढ़ता
मैं स्वयं बन मेघ जाता !

(७)

देख मुझको प्राणप्यारी
दामिनी को अंक में भर
घूमते उन्मुक्त नभ में
वायु के मृदु-मंद रथ पर,

अट्टहास - विलास से मुख-
रित बनाते शून्य को भी

जन सुखी भी क्षुब्ध होते
भाग्य शुभ मेरा सिहाकर;

प्रणयिनी भुज-पाश से जो
है रहा चिरकाल वंचित,
यक्ष मुझको देख कैसे
फिर न दुख में डूब जाता ?

'मेघ' जिस-जिस काल पढ़ता
मैं स्वयं बन मेघ जाता !

'मेघदूत' के प्रति

(८)

देखता जब यक्ष मुझको
शैल-शृंगों पर विचरता,
एकटक हो सोचता कुछ
लोचनों में नीर भरता,

यक्षिणी को निज कुशल-
संवाद मुझसे भेजने की

कामना से वह मुझे उठ
बार-बार प्रणाम करता;

कनक वलय-विहीन कर से
फिर कुटज के फूल चुनकर
प्रीति से स्वागत-वचन कह
भेंट मेरे प्रति चढ़ाता।

'मेघ' जिस-जिस काल पढ़ता
मैं स्वयं बन मेघ जाता!

(९)

पुष्करावर्तक घनों के
वंश का मुझको बताकर,
कामरूप सुनाम दे, कह
मेघपति का मान्य अनुचर

कंठ कातर यक्ष मुझसे
प्रार्थना इस भाँति करता—

'जा प्रिया के पास ले
संदेश मेरा, बंधु जलधर !

वास करती वह विरहिणी
धनद की अलकापुरी में,
शंभु शिर-शोभित कलाधर
ज्योतिमय जिसको बनाता ।'

'मेघ' जिस-जिस काल पढ़ता
मैं स्वयं बन मेघ जाता !

'मेघदूत' के प्रति

(१०)

यक्ष पुनः प्रयाण के अनु-
रूप कहता मार्ग सुखकर,
फिर बताता किस जगह पर,
किस तरह का है नगर, घर,

किस दशा, किस रूप में है
प्रियतमा उसकी सलोनी,

किस तरह सूनी बिताती
रात्रि, कैसे दीर्घ वासर,

क्या कहूँगा, क्या करूँगा,
मैं पहुँचकर पास उसके;
किंतु उत्तर के लिए कुछ
शब्द जिह्वा पर न आता।

'मेघ' जिस-जिस काल पढ़ता
मैं स्वयं बन मेघ जाता।

(११)

मौन पाकर यक्ष मुझको
सोचकर यह धैर्य धरता,
सत्पुरुष की रीति है यह
मौन रहकर कार्य करता,

देखकर उद्यत मुझे
प्रस्थान के हित, कर उठाकर

वह मुझे आशीष देता—
'इष्ट देशों में विचरता,

हे जलद, श्री वृद्धि कर तू
संग वर्षा-दामिनी के,
हो न तुझको विरह दुख जो
आज मैं विधिवश उठाता !'

'मेघ' जिस-जिस काल पढ़ता
मैं स्वयं बन मेघ जाता !

गुलहज़ारा

(१)

एक आँधी पश्चिमी नभ
से चली इस ओर आई,
जल भरे, काले, गरजते
बादलों को साथ लाई,

मुसकराई चंचला, फिर
एक लहरा मेह बरसा,

गंध सोंधी उठ धरा से
कह गई, बरसात आई।

भूमि कर तैयार, खुरपी
से बनाकर क्यारियों को,

बीज कर में, स्वप्न आँखों
में लिए माली हमारा
आज उपवन में हमारे
बो रहा है गुलहज़ारा।

(२)

उस दिवस हर बीज से था
फूट निकला एक अंकुर,
दूसरे दिन दो हुए दल
जो रहे थे साथ में जुड़,

और दो दिन बाद निकलीं
पत्तियाँ दो-दो सभी में,

देखते ही देखते, लो,
हो उठी क्यारी हरित-उर;

आज के सुकुमार पौधे
कल सुमन देंगे बड़े हो,

हे मृगी, इनको कहीं तुम
चर न जाना जान चारा;
आज उपवन में हमारे
उग रहा है गुलहज़ारा।

(३)

उस दिवस प्रत्येक पौधे
में मृदुल कलियाँ लगी थीं,
रूप में वे मोतियों की
लग रहीं बहनें सगी थीं,

दूसरे दिन खोल घूँघट
झाँकने जग को लगीं वे,

हर कली अपने अनोखे
रंग में, रस में रँगी थी,

हँस पड़ीं सब साथ सहसा,
हो उठे बलिहार पौधे,

सज गई क्यारी हमारी,
ख़ुश हुआ माली हमारा;
आज उपवन में हमारे
खिल रहा है गुलहज़ारा।

(४)

चढ़ गए कुछ पुष्प मंदिर-
देवता पर, देवियों पर,
पितृ गण की वेदियों पर
कुछ गए रक्खे सजाकर,

गुलहज़ारा

लड़कियों की सांध्य-क्रीड़ा
में कुसुम कुछ काम आए,

राम लीला मे हुए कुछ
राम-लछमन पर निछावर,

शेष झर-झरकर अवनि को
फूल की चादर ओढ़ाते,

इस तरह से जा रहा है
मातृ भू का ऋण उतारा;
आज उपवन में हमारे
लुट रहा है गुलहज़ारा।

(५)

बीज के जो कोष बाक़ी
थे, गया ले तोड़ माली,
पीत होकर अब ठिठुरती
पत्तियाँ हैं नोक वाली,

मृत्यु शय्या पर पड़े अति
रुग्ण की अंतिम हँसी-सी,

यत्न करके खिल रही है
एक लघु कलिका निराली !

साँस ठंडी ले प्रकृति अब
प्राण उसके ले रही है,

हाथ से अपने उसी ने
था जिसे कलतक सँवारा;
आज उपवन से हमारे
मिट रहा है गुलहज़ारा।

समाप्त